ISSN 2349-1809

74

जनवरी-फरवरी 2018

पुस्तक-वार्ता

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नए प्रकाशन

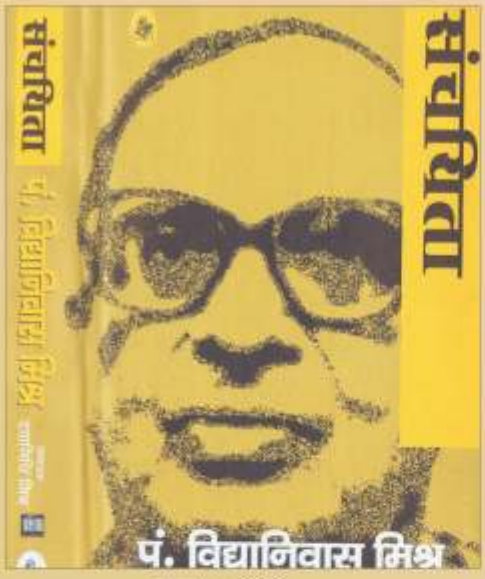

मूल्य : 800

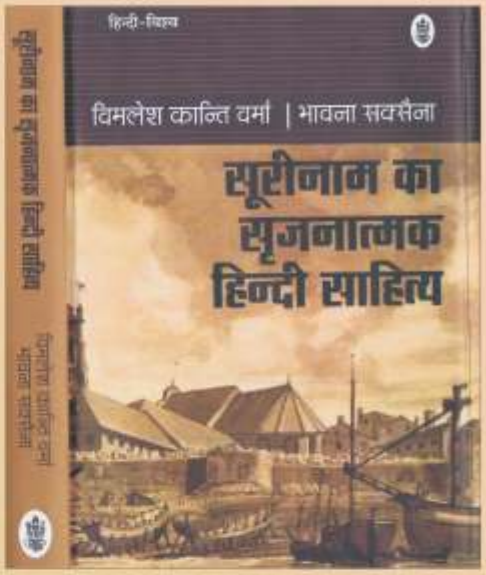

मूल्य : 600

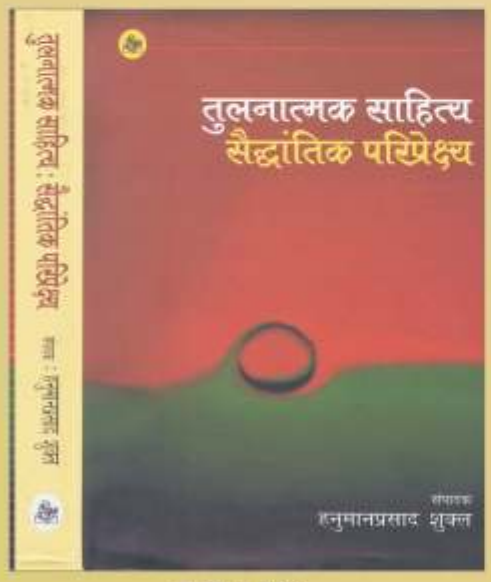

मूल्य : 550

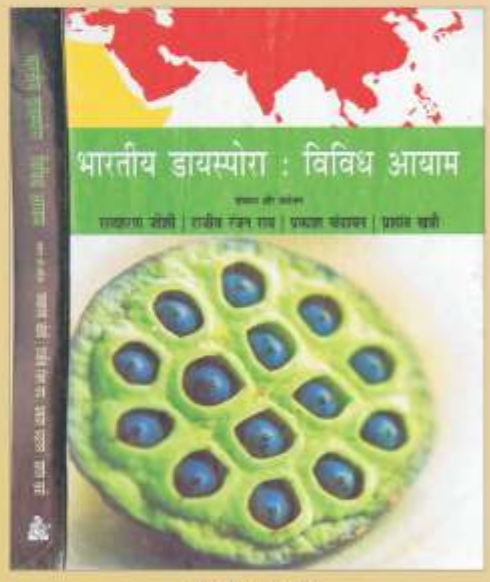

मूल्य : 350

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)

ISSN 2349-1809

पुस्तक-वार्ता

अंक : 74 ■ वर्धा, जनवरी-फरवरी, 2018

संरक्षक संपादक
गिरीश्वर मिश्र (कुलपति)

संपादक
अशोक मिश्र

सह-संपादक
अमित कुमार विश्वास

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संपादकीय संपर्क
संपादक : पुस्तक-वार्ता
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
मो. : संपा. 7888048765, सह-संपा. 9970244359
ई-मेल : amitbishwas2004@gmail.com

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक एवं विश्वविद्यालय की स्वीकृति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से विश्वविद्यालय या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : रु. 20/-
वार्षिक सदस्यता : रु. 120/- (व्यक्तिगत)
: रु. 180/- (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)
(नोट : केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएँगे। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें-
प्रकाशन प्रभारी, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943

PUSTAK-VARTA
A Bimonthly journal of Book Reviews in Hindi published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post - Hindi Vishwavidyalaya, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

मुद्रण : क्विक ऑफसेट, दिल्ली - 110032

इस बार

जयशंकर प्रसाद के संपूर्ण साहित्य में संस्कृति-चिंतन अत्यंत प्रगाढ़ एवं गंभीर है। वे भारतीय इतिहास, साहित्य और संस्कृति के सुधी अध्येता हैं। इसी प्रकार सुभद्रा जी के लेखन और उनके संकल्पशील संघर्ष का दौर भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास की शृंखला में एक युगांतकारी और क्रांतिकारी समय था। इन दोनों रचनाकारों को याद करते हुए आलेख शामिल किए गए हैं।

जयशंकर प्रसाद : किया मूक को मुखर / कृष्ण कुमार सिंह 04
स्वाधीनता की हलचल और सुभद्रा कुमारी चौहान / कुमुद शर्मा 07
साहित्य और राज्यसत्ता / श्रीभगवान सिंह 11
गांधी : एक टीस-सी उठती है / प्रभु जोशी 17
मर्म का स्पर्श / प्रयाग शुक्ल 19
विमर्श से आगे / इंदिरा दांगी 21
हिंदी वाचिकता का रचाव / बुद्धिनाथ मिश्र 24
चिंताएं देशकाल की / दामोदर खड़से 27
एक कारवां आ रहा है जिंदगी से भरा हुआ! / रामदेव शुक्ल 29
हाशिए का गल्प / रमा प्र. नवले 32
मिथिला की स्त्री / संजय कुमार 37
चिंतन के स्वर / श्रीराम परिहार 40
लोकतंत्र का अंतिम क्षण! / अरुण कुमार त्रिपाठी 43
भारतीय बाल साहित्य पर एक जरूरी विमर्श / दिविक रमेश 47
लिपि की लड़ाई / कंवल भारती 51
कथा एक दुर्धर्ष जीवन की / अखिलेश कुमार दुबे 55
एक नई दुनिया का दरवाजा / विजया सती 58
साहित्यिक पुरखों का स्मरण / अशोक नाथ त्रिपाठी 61
पुस्तकें मिलीं 66

आवरण पृष्ठ : जयशंकर प्रसाद एवं सुभद्रा कुमारी चौहान

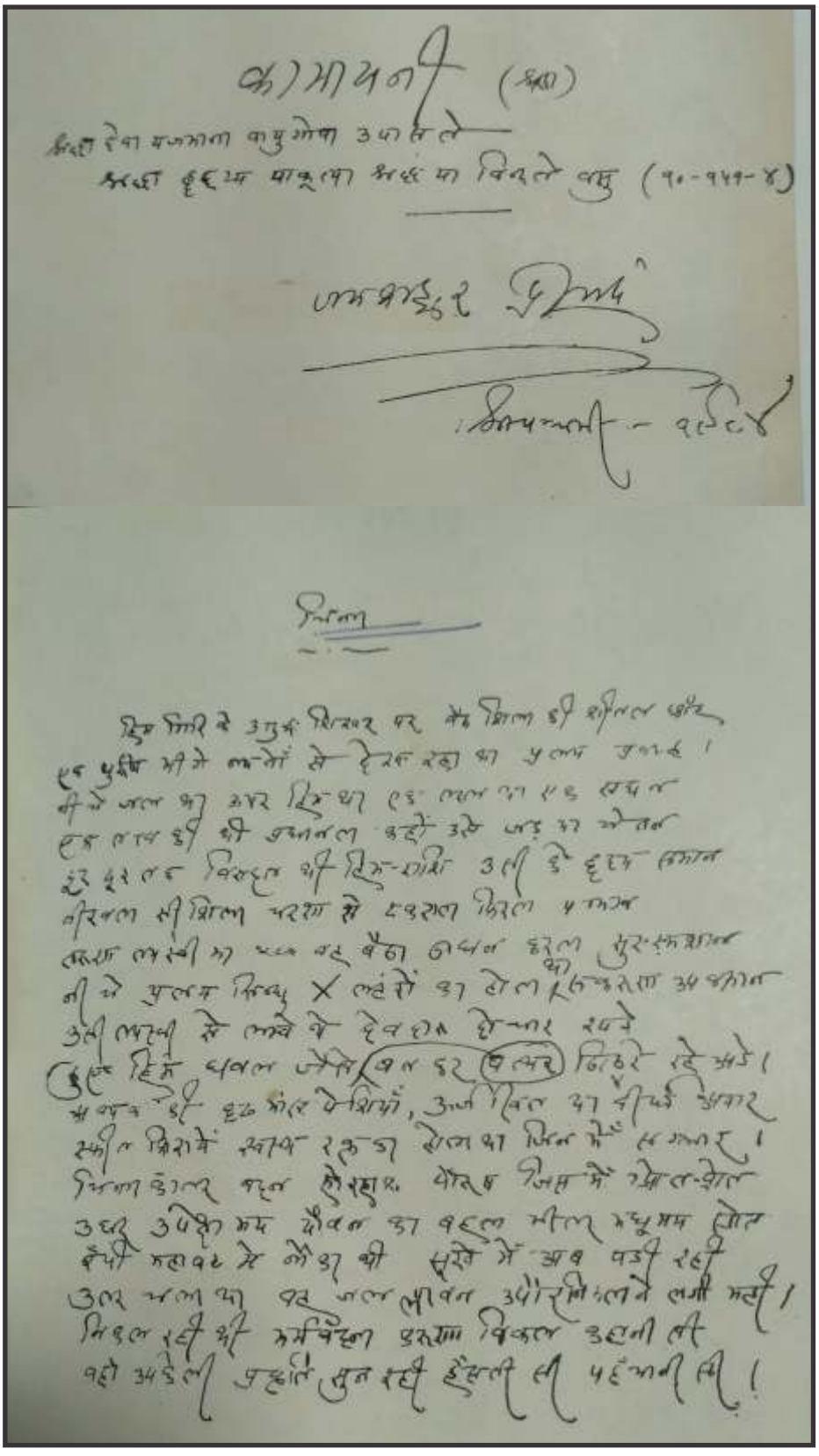

जयशंकर प्रसाद रचित 'कामायनी' की पांडुलिपि
स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संरक्षित है।

संपादकीय

साहित्य जगत में पहचान पाना मुश्किल होता है और नव लेखकों के लिए कुछ ज्यादा ही मुश्किल है। इसके बावजूद रचनाशीलता को प्रोत्साहित व प्रशंसित किए जाने के साथ ही प्रकाशन और पुरस्कार के अवसर मिलने भी जरूरी हैं। वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य पर नजर डालने पर साफ दिखता है कि कुछेक संस्थाएं इस दिशा में कार्य कर रही हैं। आज जरूरत इस बात की है कि वरिष्ठ लेखक आगे बढ़कर नए लेखकों को गौरवशाली साहित्यिक विरासत और अपने अनुभव और लेखन की बारीकियों से परिचित कराएं तभी नए लेखक भी साहित्य को गहराई से आत्मसात् कर सकेंगे। यह बात कही जा सकती है कि साहित्य रचना एक किस्म की साधना है। स्वीकृति भी देर से मिलती है। लेखन में धैर्य का खासा महत्त्व होता है। प्रकाशकों के यहां से प्रकाशित पुस्तकों को देखकर यह जरूर कहा जा सकता है कि नए लेखक प्रयोगशील हैं। वे साहसी भी हैं। वे साहित्य की विभिन्न विधाओं से तो आ ही रहे हैं साथ में समाज के लगभग सभी तबकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लिखने, पढ़ने और साहित्य के साथ जुड़ने का सिलसिला अनवरत प्रवाह है मगर रचनाशीलता को मुरझाने से पहले सिंचित किए जाने की दिशा में काम करने की जरूरत है। साहित्य संवर्द्धन से जुड़ी संस्थाओं और पत्र-पत्रिकाओं को इस दिशा में पहल करना चाहिए।

इस महीने बाबू जयशंकर प्रसाद के जन्म का 128वां वर्ष है। हम श्रद्धा और प्रीतिपूर्वक उनका स्मरण कर रहे हैं। प्रसादजी ने एकांत भाव से भारत की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना को अपने साहित्य कर्म का लक्ष्य बनाया। कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक विधाओं में हिंदी को सशक्त भाषा दी और 'स्वयंप्रभा, समुज्जवला, स्वतंत्रता' का स्वर भी मुखरित किया। छायावाद की काव्यधारा को स्थापित करने में और साहित्यिक रचनाशीलता को गरिमा प्रदान करने में उनका अतुलनीय योगदान है।

'पुस्तक-वार्ता' के इस अंक में आजादी की लड़ाई आंदोलन के दौरान अपनी लेखनी के माध्यम से राष्ट्रवादी चेतना का प्रसार करने वाले दो पुरोधाओं को याद किया गया है। पुरखों के योगदान को स्मरण करते हुए उनके रचनाकर्म से गुजरते हुए उस नजरिए के साथ समझने की कोशिश करनी चाहिए ताकि साहित्य की नई पीढ़ी यह समझ सके कि हमारे बीच कैसी मेधा और शैली वाले साहित्यकार रहे हैं। ये वे लोग थे जिन्होंने लेखन को ही जीवन का उद्देश्य बना लिया था। कवि- कथाकार जयशंकर प्रसाद ने यद्यपि दो ही उपन्यास 'कंकाल' और 'तितली' अपने जीवनकाल में लिखे लेकिन उनके ये उपन्यास कुछ ऐसे मानक बने जिन्हें आज भी भुला पाना मुश्किल है। उनकी कहानियों में समाज की विसंगतियां मुखर होकर सामने आती हैं। प्रसादजी के साहित्यिक अवदान पर कृष्ण कुमार सिंह का लेख पाठकों को एक नई दृष्टि देगा। सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम साहित्य में कुछ ऐसा है कि उनकी एक ही रचना 'झांसी की रानी' जन- जन की जुबां पर यूं चढ़ी कि बच्चे बूढ़े आज भी उसके मुरीद हैं। यद्यपि उन्होंने कुछ कहानियां भी लिखीं लेकिन वे हिंदी साहित्य में 'झांसी की रानी' की रचयिता के रूप में अमर हो गई हैं उनको स्मरण कर रही हैं कुमद शर्मा। साहित्य और राजसत्ता लेख में श्रीभगवान सिंह फ्रांसीसी राज्य क्रांति या फिर रूसी क्रांति जैसी पश्चिमी देशों की घटनाओं की चर्चा करते हुए भारतीय परंपरा में साहित्य और राजसत्ता की कैसी स्थितियां रही हैं उसकी व्याख्या करते हैं जो कि पाठकों को रुचिकर लगेगा। 'गांधी : एक टीस सी उठती है', में कथाकार प्रभु जोशी ने गौरतलब टिप्पणी की है वैश्वीकरण/भूमंडलीकरण की आंधी ने गांधी को अप्रासंगिक बना दिया है। अंक में हमेशा की तरह साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रकाशित नई पुस्तकों की समीक्षाएं दी गई हैं। पिछले अंकों तक वरिष्ठ पत्रकार श्री विमल झा पत्रिका का संपादन कर रहे थे उनके प्रति हार्दिक आभार। यह अंक कैसा लगा यह पत्र लिखकर, एसएमएस संदेश से या ईमेल भेजकर अवगत कराएं। आपके सुझावों व प्रतिक्रियाओं का इंतजार रहेगा।

अशोक मिश्र

जयशंकर प्रसाद : किया मूक को मुखर

कृष्ण कुमार सिंह
साहित्यकार

संपर्क : प्रोफेसर
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

जयशंकर प्रसाद के संपूर्ण साहित्य में संस्कृति-चिंतन अत्यंत प्रगाढ़ एवं गंभीर है। वे भारतीय इतिहास, साहित्य और संस्कृति के सुधी अध्येता हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रामाणिक और विश्वसनीय चित्र मिलते हैं। राष्ट्रीय नवजागरण के दौरान यह स्वाभाविक था। उपनिवेशवादी सत्ता प्रतिष्ठान के संरक्षण में पोषित विचारकों, लेखकों द्वारा भारतीय इतिहास और संस्कृति की गई व्याख्या उनके लिए एक बड़ी चुनौती थी।

हिंदी के जीवन हे, दूर गगन के द्युतर
ज्योतिर्मय तारा-से उतरे तुम पृथ्वी पर;
- - - -
किया मूक को मुखर, लिया कुछ, दिया अधिकतर
पिया गरल, पर किया जाति साहित्य को अमर।

'प्रसाद के प्रति' कविता की उपर्युक्त पंक्तियों में निराला हिंदी के सर्वाधिक प्रतिभा-संपन्न रचनाकार जयशंकर प्रसाद को अपने विशिष्ट अंदाज में स्मरण करते हैं। निःसंदेह जयशंकर प्रसाद (1889–1937 ई.) आधुनिक हिंदी कविता के सशक्त स्तंभ हैं। वे सच्चे अर्थों में बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न हैं। अड़तालीस वर्ष की अल्पायु में उन्होंने कविता, उपन्यास, कहानी और नाटक विधा में महान और कालजयी कृतियों का सृजन किया। यह किसी चमत्कार से कम नहीं है। उनकी रचनाएं हिंदी भाषा और समाज की गौरव–निधि हैं।

छायावाद के आधार-स्तंभ जयशंकर प्रसाद ने प्रभूत मात्रा में उच्च कोटि का साहित्य रचा है। उनकी रचनाशीलता के एक छोर पर 'कामायनी' जैसा अप्रतिम महाकाव्य तो दूसरे पर 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त', 'अजातशत्रु' और 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे अविस्मरणीय नाटक मौजूद हैं। इसी तरह उपन्यास और कहानी विधा में भी उनकी प्रखर प्रतिभा की चमक दिखाई पड़ती है। 'कंकाल' और 'तितली' हिंदी उपन्यास की श्रेष्ठ उपलब्धि हैं। इन दोनों उपन्यासों में उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी और प्रगतिशील है। 'तितली' उस युग में नारी मुक्ति का श्रेष्ठ आख्यान है जहां उसे आर्थिक मुक्ति के सवाल से जोड़कर देखा गया है। 'कंकाल' उपन्यास में जमींदारों एवं तथाकथित धर्मगुरुओं द्वारा किए जाने वाले स्त्री शोषण तथा उत्पीड़न का यथार्थपरक अंकन कर उनको बखूबी बेनकाब किया गया है। गौरतलब है कि प्रेमचंद के 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' और 'गोदान' जैसे उपन्यासों के साथ प्रसाद के उक्त दोनों उपन्यास हिंदी उपन्यास के यथार्थवादी रुझान के स्पष्ट प्रमाण हैं जिनकी परंपरा आगे चलकर राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, नागार्जुन, अमृतलाल नागर जैसे लेखकों के उपन्यासों के रूप में विकसित होती है।

जयशंकर प्रसाद की कहानियां उनकी असाधारण कहानी-कला का महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। उन्होंने कुल पचहत्तर कहानियों की रचना की। 'गुंडा' 'शरणार्थी', 'रोज', 'आकाशदीप', 'ममता', 'पुरस्कार', 'पठार का धीरज', 'बिसाती', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'मधुआ', 'नन्हा जादूगर', 'हीली बोन की बत्तखें' जैसी कहानियां हिंदी भाषा और साहित्य की अमूल्य विरासत हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि हिंदी कहानी के क्षेत्र में 'प्रेमचंद स्कूल' के साथ–साथ 'प्रसाद स्कूल' की चर्चा उनके जीवन काल में ही होने लगी थी। अनेक रूपात्मक जीवन-जगत का जैसा भावपूर्ण और विचारपूर्ण चित्रण प्रसाद की कहानियों में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हिंदी कहानी संबंधी कोई चर्चा उनकी कहानियों के उल्लेख के बगैर पूरी नहीं मानी जा सकती। हिंदी कहानी को प्रसाद के महत्वपूर्ण अवदान का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है?

हिंदी नाटक के क्षेत्र में प्रसाद का ऐतिहासिक योगदान है। ध्यान देने की बात है कि उनके नाटक प्राचीन भारतीय संस्कृति को समझने-समझाने की चिंता मात्र से उद्भूत नहीं हुए हैं बल्कि तत्कालीन समाज और जीवन से उनका गहरा संबंध है। देश में चल रहे स्वाधीनता संग्राम के बीच अपनी जातीय संस्कृति और परंपरा के आलोक में समकालीन समाज की समस्याओं और चुनौतियों से टकराने के क्रम में उन्होंने अपने नाटकों की रचना की है। औपनिवेशिक गुलामी के दौर में कोई भी समाज विस्मृति का शिकार हो जाता है। ध्यातव्य है कि आत्मविस्मरण व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक सिद्ध होता है। कला-साहित्य सर्जक के यहां आत्मबोध प्रबल होता है और वह आत्मविस्मरण से संघर्ष कर रचना को प्राणवान और समकालीन बनाता है। जयशंकर प्रसाद के नाटक आत्म विस्मरण का पूरी तरह निषेध करते हैं। प्रसाद के गंभीर चिंतन, अध्ययन और मनन की झलक उनके नाटकों में बराबर मिलती है। इन सबके केंद्र में मौजूद है उनकी राष्ट्र-चिंता। उनके नाटकों में राष्ट्रीय भावना, आदर्शोन्मुखता के साथ

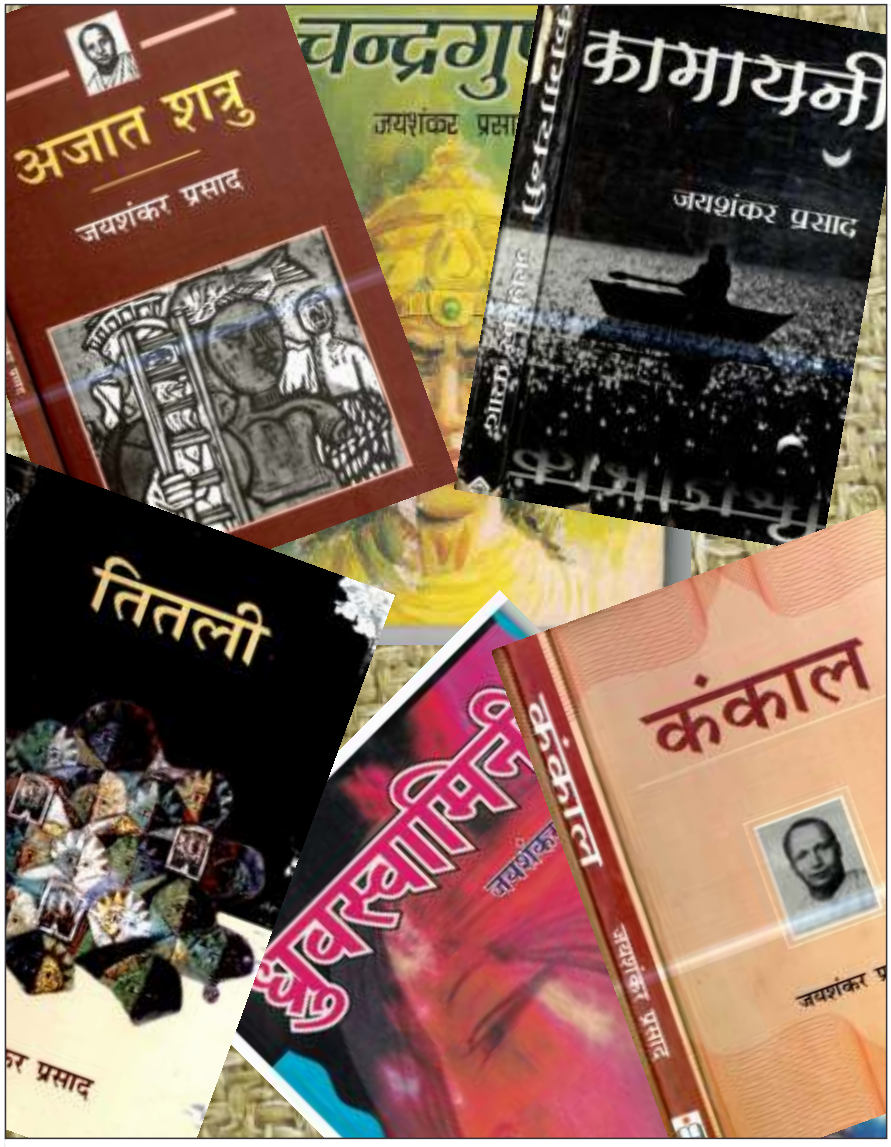

जीवन के प्रति गहरे रागात्मक दृष्टिकोण की प्रभावशाली अभिव्यक्ति काव्यात्मक गरिमा के साथ हुई है। स्मरणीय है कि उनके नाटकों में प्रयुक्त उच्च कोटि के मनोहारी गीत उनके कथानक से नाभिनालबद्ध हैं। नाटकों को संप्रेषणीय और प्रभविष्णु बनाने में उनकी महती भूमिका है। इसी पृष्ठभूमि में प्रसाद ने भारतीय इतिहास, परंपरा और मूल्य व्यवस्था के पुनरावलोकन और पुनराविष्कार का सार्थक उपक्रम किया। यूरोप से लाए गए नवीन ज्ञान-विज्ञान से आतंकित हुए बिना उन्होंने उसके ग्रहणीय अंश को स्वीकार किया। उन्होंने अपनी विपुल सांस्कृतिक संपदा का संधान और उसके महनीय-रक्षणीय अंश की विवेक सम्मत व्याख्या कर राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम और नवजागरण को मजबूत भित्ति पर प्रतिष्ठित किया। रूढ़ियों का तीव्र नकार और युगानुरूप प्रासंगिक सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा उनकी कृतियों का निजी वैशिष्ट्य है। जयशंकर प्रसाद के संपूर्ण साहित्य में संस्कृति-चिंतन अत्यंत प्रगाढ़ एवं गंभीर है। वे भारतीय इतिहास, साहित्य और संस्कृति के सुधी अध्येता हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रामाणिक और विश्वसनीय चित्र मिलते हैं। राष्ट्रीय नवजागरण के दौरान यह स्वाभाविक था। उपनिवेशवादी सत्ता प्रतिष्ठान के संरक्षण में पोषित विचारकों, लेखकों द्वारा भारतीय इतिहास और संस्कृति की गई व्याख्या उनके लिए एक बड़ी चुनौती थी। स्मरणीय है कि प्रसाद का आविर्भाव उस कालखंड में हुआ जब पश्चिमी विचारों की आँधी के मुकाबले के लिए दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, रवींद्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी के विचारों के आलोक में देश का मानस नए सिरे से तैयार हो रहा था। भारतीय संस्कृति में नवजीवन की लहर पैदा करने वाले इन मनीषी विचारकों का प्रभाव उस समय के रचनाकारों पर किसी न किसी रूप में पड़ा और उसकी अभिव्यक्ति उनके साहित्य में हुई। ये सारे विचारक लोकजीवन से गहन प्रेम करने वाले तथा दीन–दुखी जनों के प्रति गहरी करुणा और ममता से भरे थे। अपने महाकाव्य 'कामायनी' में इंगित आनंदलोक के संबंध में प्रसाद जी ने लिखा है –

अपने दुख-सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर
चिति की विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुंदर।

उल्लेखनीय है कि वर्तमान में भी हम एक तरह की नवउपनिवेशवादी दासता के दौर से गुजर रहे हैं। उसके अदृश्य शिकंजों की जकड़न देह पर कम मन पर ज्यादा है। उद्दाम भोगवाद, उपभोक्तावाद इस नई महाजनी सभ्यता के अवश्यंभावी परिणाम हैं। कहना न होगा कि निर्बंध भोगवाद किसी भी काल में समाज के विध्वंस का कारण बनता है, चाहे वह 'कामायनी का देवलोक' ही क्यों न हो। स्वार्थपरता, अचूक अवसरवादिता और धन को सबसे बड़ा मूल्य मानने वाले इस दौर में 'कामायनी' की श्रद्धा का प्रबोधन बहुत प्रासंगिक लगता है –

अपने में सब कुछ भर
कैसे व्यक्ति विकास करेगा
यह एकांत स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।

'कामायनी' का प्रकाशन 1937 ई. में हुआ। याद रखना होगा कि इससे पहले महात्मा गांधी की पुस्तक 'हिंद स्वराज' 1909 ई. में प्रकाशित हो चुकी थी जिसमें उन्होंने लाभ-लोभ की प्रवृत्ति पर टिकी आधुनिक पूंजीवादी यांत्रिक सभ्यता की निर्मम समीक्षा प्रस्तुत की थी। 'हिंद स्वराज' की गहरी अनुगूँज 'कामायनी' में सुनी जा सकती है। यांत्रिक सभ्यता के दुष्परिणामों का संकेत करते हुए प्रसाद उसकी खबर लेते हैं –

प्रकृति शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

प्रसाद के समय से काफी आगे बढ़ चुकी प्रौद्योगिकी की चकाचौंध में आज का हमारा प्रकृत जीवन प्रकृत बना रह पाया है या विकृति का पर्याय बनता गया है? यह हमारे अनुभव की चीज है। यंत्रचालित जीवन-शैली मनुष्य समाज को कहां ले जाकर छोड़ेगी, कोई नहीं कह सकता है।

आज संपूर्ण संसार में संस्कृति की चर्चा जोर-शोर से चल रही है, लड़ाइयां ज्यादातर संस्कृति के मैदान में लड़ी जा रही हैं। हमारा देश भी इसका अपवाद नहीं। ऐसे दौर में प्रसाद के साहित्य कर्म को नए सिरे से देखने-परखने की आवश्यकता है। जिस रचनाकार पर कभी 'इतिहास के गड़े मुर्दे' उखाड़ने का आरोप लगा था उसकी रचनाओं का वस्तुपरक विवेचन ऐसे आरोप को सहज ही खारिज कर देता है। प्रसाद के साहित्य का कोई भी गंभीर पाठक ऐसे मतिभ्रम का शिकार नहीं होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद अपनी रचनाओं में अतीत के पास जाते हैं तो वहां चादर बिछाकर सो नहीं जाते।

हिंदी नाटक के क्षेत्र में प्रसाद का ऐतिहासिक योगदान है। ध्यान देने की बात है कि उनके नाटक प्राचीन भारतीय संस्कृति को समझने-समझाने की चिंता मात्र से उद्भूत नहीं हुए हैं बल्कि तत्कालीन समाज और जीवन से उनका गहरा संबंध है। देश में चल रहे स्वाधीनता संग्राम के बीच अपनी जातीय संस्कृति और परंपरा के आलोक में समकालीन समाज की समस्याओं और चुनौतियों से टकराने के क्रम में उन्होंने अपने नाटकों की रचना की है।

उनके यहां अपनी सांस्कृतिक परंपरा से जीवंत संवाद कायम करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। वर्तमान और इतिहास में आवाजाही उनकी रचनाओं में बराबर दिखाई पड़ती है। असाधारण पांडित्य, कला-साहित्य की गहरी समझ और सबल सांस्कृतिक संवेदना के साथ उनके द्वारा किया गया संवाद आज बहुत प्रासंगिक और सार्थक है। गाल बाजकर (पंडित सोई जो गाल बजावा-तुलसीदास) और जाल फैलाकर ज्ञानी का बाना धारण करने और बिना विवेक के ही 'संग्रह-त्याग' के लिए खून-पसीना बहाने वाले लोगों से भरे समकालीन समाज में जयशंकर प्रसाद का साहित्य एक मजबूत प्रकाश स्तंभ है।

हर देश-काल का बड़ा रचनाकार 'अभिव्यक्ति के खतरे' उठाता है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में संत और भक्त कवियों ने ऐसे खतरे उठाए थे। उस समय के तेजस्वी कवि कबीरदास ने ऐसे खतरे का संकेत अपनी कविता में कई स्थलों पर किया है। उन्होंने समानधर्मा लोगों की कमी और समाज की उदासीनता से उत्पन्न पीड़ा को अपने एक दोहे में इस प्रकार व्यक्त किया है –

ऐसा कोई ना मिला जासों कहौं निसंक
जासौं हिरदै की कहौं सो फिरि मारै कंक।

'हिरदै की' बात कहने वालों के साथ प्रायः हर देश-काल में इसी तरह का बर्ताव होता है। सुकरात, ईसा मसीह से लेकर महात्मा गांधी तक के साथ किया गया व्यवहार इसका प्रमाण है। लेकिन गौरतलब है कि हर युग में जागरूक रचनाकार जोखिम उठाकर 'हिरदै की' की कहना नहीं छोड़ता। हिंदी के जिन रचनाकारों ने व्यापक लोकचिंता से प्रेरित होकर जोखिम उठाए हैं उनमें जयशंकर प्रसाद अन्यतम हैं। यांत्रिक जीवन-प्रवाह के 'तुमुल कोलाहल कलह' के बीच 'हृदय की बात' सलीके से कहने का कौशल और उसके लिए अपेक्षित साहस जयशंकर प्रसाद के पास बखूबी था। दुर्भाग्य से गलाकाट प्रतिस्पर्धा के वर्तमान दौर में ऐसी बात कहने वाले तो कम हो ही गए हैं, सुनने वाले और भी कम हो गए हैं। यह इस युग की बड़ी विडंबना है। जरूरी है ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना जिसमें निःसंकोच और निर्भय होकर हृदय की बात कहने वाले और धैर्य से उसे सुनने वाले दोनों अच्छी-खासी संख्या में उपस्थित हों। इस दृष्टिकोण से भी प्रसाद का विपुल साहित्य हमारी मूल्यवान धरोहर है। ■

स्वाधीनता की हलचल और सुभद्रा कुमारी चौहान

कुमुद शर्मा
साहित्यकार

संपर्क : 188,
नेशनल मीडिया सेंटर
एन.एच.-8,
गुरुगाँव-122002 (हरियाणा)

निर्भीक और साहसिक अभिव्यक्ति से साहित्य और राजनीति में अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करनेवाली सुभद्रा कुमारी चौहान का जिक्र आने पर महादेवी वर्मा की ये पंक्तियां बरबस याद आती हैं- ''बहिन सुभद्रा का चित्र बनाना आसान नहीं है क्योंकि चित्र की साधारण जान पड़नेवाली प्रत्येक रेखा के लिए उनकी भावना की दीप्ति 'संचारिणी दीपशिखेव' बनकर उसे असाधारण कर देती है।'' बीसवीं सदी के हिंदी साहित्य के इतिहास में सुभद्रा कुमारी चौहान एक असाधारण और प्रेरणात्मक व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित हैं। एक ऐसा व्यक्तित्व जिसमें लेखिका, राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता और वात्सल्यमयी मां का रूप इतना घुला-मिला है कि कभी-कभी उन्हें अलगाना मुश्किल है। उनका समग्र जीवन और साहित्य यह सिद्ध करता है कि राष्ट्र भाव का तेवर कितना आक्रामक, कितना पैना और कितना सधा हुआ हो सकता है। कैसे वह अपने समय को लाँघकर अपनी मूल्यवत्ता स्थापित कर लेता है।

''बहिन सुभद्रा का चित्र बनाना आसान नहीं है क्योंकि चित्र की साधारण जान पड़नेवाली प्रत्येक रेखा के लिए उनकी भावना की दीप्ति 'संचारिणी दीपशिखेव' बनकर उसे असाधारण कर देती है।''

सुभद्रा जी के लेखन और उनके संकल्पशील संघर्ष का दौर भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास की शृंखला में एक युगांतकारी और क्रांतिकारी समय था। राष्ट्रीयता की भावना प्रखर, विस्तीर्ण और प्रबल हो जाती है। 1905 के बंग विभाजन ने जनांदोलन को तीव्रता प्रदान की। समूचा देश 'खोए हुए स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए संकल्प' दिखाई दिया। चंपारण और खेड़ा के सत्याग्रह आंदोलनों ने भारतीयों में आत्मविश्वास की भावना को सुदृढ़ किया। इस काल में राष्ट्रीयता गांधीजी की विचारधारा से पुष्ट और विकसित हुई। 1920 के पूर्व जलियांवाला बाग हत्याकांड तथा युद्ध के समय दिए गए आश्वासनों और वचनों की उपेक्षा के कारण प्रकट हुए शोषण की नीति एवं अंग्रेजों की निरकुंशता ने विद्रोह को जन्म दिया। गांधी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन का मार्ग निर्दिष्ट किया गया। स्वामी रामतीर्थ की ये पंक्तियां सवेरे-सवेरे प्रभात फेरी में उच्चारित होतीं- ''गंगा उठो कि नींद में सदियां गुजर गईं।'' प्रेरणात्मक राष्ट्रीयता का उद्भासित स्वर इस युग में एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों से जुड़ गया। इस समय स्वातंत्र्य को पाने की दो पद्धतियां बिल्कुल स्पष्ट हो गईं। संकल्पशील मन का संघर्ष और कष्ट भोग की तत्परता। ये दो पद्धतियां ही स्वाधीनता का मार्ग प्रशस्त करेगी, यह धारणा बलवती हुई। इस परिदृश्य में माखनलाल चतुर्वेदी 'पुष्प की अभिलाषा' जैसी कविताएं रचकर और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ''कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए'' के उद्घोष द्वारा राष्ट्रीय स्वरों का उच्चारण कर रहे थे।

स्वाधीनता संग्राम की इन हलचलों के बीच सुभद्राजी के रचनात्मक व्यक्तित्व ने आकार ग्रहण किया। जब सुभद्राजी का विवाह स्वतंत्रता सेनानी ठाकुर लक्ष्मण सिंह चौहान से हुआ तब उन्होंने व्यक्तिगत हितों की तिलांजलि देकर स्वाधीनता आंदोलन की डगर पर चुनौतियों को स्वीकार किया- ''स्वतंत्रता के युद्ध के लिए सन्नद्ध पति को वे विवाह से पहले देख भी चुकी थीं और उनके विचारों से परिचित भी थीं। उनसे यह छिपा नहीं था कि नववधू के रूप में उनका जो प्राप्य है उसे देने का पति को न अवकाश है, न लेने का उन्हें। वस्तुतः जिस विवाह में मंगल-कंकण ही रण-कंकण बन गया, उसकी गृहस्थी भी कारागार में ही बसाई जा सकती थी और उन्होंने बसाई भी वहीं। पर इस साधना की मर्म व्यथा को वही नारी जान सकती है जिसने अपनी देहली पर खड़े होकर भीतर को मंगल चौक पर रखे कलश, तुलसी-चौरे पर जलते हुए घी के दीपक और हर कोने से स्नेह भरी बाहें फैलाए अपने घर पर दृष्टि डाली हो और फिर बाहर के अँधकार, आँधी और तूफान को तोला हो, तब घर की सुरक्षित सीमा पार कर उसके सुंदर मधुर आह्वान की ओर से पीठ फेरकर अँधेरे रास्ते पर कांटों से उलझती चल पड़ी हो। उन्होंने हँसते-हँसते ही बताया था कि जेल जाते समय उन्हें इतनी अधिक फूल-मालाएं मिल जाती थीं कि वे उन्हीं का तकिया बना लेती थीं और लेटकर पुष्प-शय्या के सुख का अनुभव करती थीं।" (महादेवी वर्मा, 'पथ के साथी', पृ. 41)

सुभद्राजी ने तत्कालीन परिस्थितियों की मांग के

अनुरूप अतीत और वर्तमान दोनों से प्रेरणा लेकर जनमानस को राष्ट्रीय भूमिका में संस्कारित करने की अपनी सृजनात्मक शक्ति लगा दी। एक ओर चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई उनकी प्रेरणा का स्रोत बने तो दूसरी तरफ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी उनके आदर्श। स्वाधीनता की आकांक्षा और इस आकांक्षा को साकार करने के लिए संघर्ष को वहन करने की क्षमता और बलिदान की तत्परता स्वाधीनता संग्राम में राष्ट्रीय चेतना के विविध आयाम थे। उन्हें अपने व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों के माध्यम से जन-जन तक पहुंचाने का काम सुभद्रा कुमारी चौहान ने किया। 'घर और कारागार के बीच' उनके जीवन की गति और उनकी लेखनी दोनों प्रेरणा देते रहे।

उनकी सृजनशीलता ने राष्ट्रीय जागरण की आंतरिक लय को पकड़ा। उनकी कविताओं ने स्वाधीनता आंदोलन के दौरान हिंदुस्तानियों के होंठों का गीत बनकर गांव-गांव, गली-गली स्वाधीनता का अलख जगाया। उन्होंने ऐतिहासिक और राष्ट्रीय भावनाओं को समसामयिक राजनीतिक जीवन के तात्कालिक संदर्भों से जोड़ा। सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं में राष्ट्रीयता 'प्रलयंकारी उच्च घोषणाएं' बनकर नहीं आई वरन् उसने संघर्षमयी चेतना के रूप में आकार पाया, जो संघर्षशील परिस्थितयों को देर तक और दूर तक वहन कर सके ऐसा अनुभव और चरित्र ही उनके लिए मूल्यवान बना। उनका राष्ट्रीय काव्य जीवन के 'ऊष्मापूर्ण संपर्क' के कारण लोकमानस का अंग बन गया। देशवासियों के अंतःकरण में उसने त्याग, बलिदान और संघर्ष के भाव जगाए।

बुंदेलखंडी लोक शैली में गाए जानेवाले छंद में रची 'झांसी की रानी' कविता स्वाधीनता संग्राम की विस्फोटक शक्ति का स्रोत बनकर भारतीयों के मन में राष्ट्रभाव

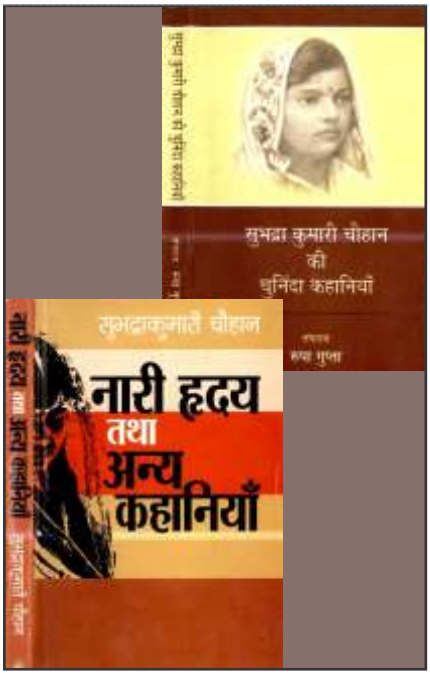

जगाने का नारा बनी रही। आगे चलकर झांसी की रानी और सुभद्रा कुमारी चौहान एक-दूसरे के पर्याय बन गए। झांसी की रानी का जिक्र आते ही सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम याद आ जाती और सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम आते ही झांसी की रानी की शौर्य गाथा की स्मृति मन में गूंज उठती। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के युद्ध कौशल, उसकी वीरता, संगठन क्षमता, स्वाधीनता संग्राम में अपनी बलिदानी व्यक्तित्व को आधार बनाकर लिखी गई सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता 'झांसी की रानी', जातीय-काव्य के रूप में भारतीय जनमानस में कहीं गहरे प्रवेश कर गई-

''सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी।
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।''

रानी लक्ष्मीबाई की वीरता और साहस गाथा का यह बखान न जाने कितनों के अंतःकरण में स्वाधीनता के लिए संघर्ष और बलिदान की तत्परता पैदा करता था। महादेवी वर्मा ने सुभद्रा कुमारी चौहान के व्यक्तित्व की रेखाओं का चित्र बनाते हुए अपने एक संस्मरण में कहा है कि- ''सुभद्राजी के व्यक्तित्व के भीतर बिजली का छंद था।'' उनकी 'झांसी की रानी' कविता उनकी कलम में भी बिजली का छंद होने की गवाही देती है। इस कविता की लोकप्रियता का चरम यह था कि जबलपुर के पास नर्मदा के किनारे त्रिपुरा कांग्रेस का भव्य अधिवेशन हो रहा था। उसमें नुमाइश लगी थी। पेड़ों के नीचे, जमीन पर देशभर के दुकानदारों ने अपनी-अपनी दुकानें सजा रखी थीं। वहीं मामूली से कागज पर छपी यह कविता एक-एक आने में बिक रही थी। लोगों में टिकुली, कंघी, चिमटा, सरौता आदि घरेलू सामान के साथ-साथ इस कविता को खरीदने की होड़ लगी हुई थी। इस कविता के पाठ से आज भी इसमें निहित राष्ट्र-भाव से हमारी शिराएं उत्तप्त हो जाती हैं। जिस तरह कहानीकार चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' ने हिंदी साहित्य में उनका स्थान सुरक्षित कर दिया उसी तरह सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झांसी की रानी' कविता हिंदी साहित्य के साथ-साथ भारतीय जनमानस में सुभद्राजी के यश का आधार स्तंभ बन गई। सुधा चौहान ने इस कविता की प्रशंसा में सही लिखा है कि, ''आधुनिक हिंदी कविता में शायद ऐसा यह अकेला वीर गाथा काव्य है, जो लोकगीत के समान लोक-मानस का अंग बन गया है।'' (सुभद्रा कुमारी चौहान, सुधा चौहान, पृ. 20)

यही नहीं, स्त्री विमर्श के गंभीर माहौल में यह कविता स्त्री शक्ति का प्रामाणिक दस्तावेज उपस्थित करती है। स्वाधीनता संग्राम में स्वतंत्रता का मंत्र फूंकती लक्ष्मीबाई के चरित्र को जिस तरह इस कविता में संश्लिष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है वह इतिहासबोध और देशबोध के साथ-साथ स्त्री की आजादी के प्रेरणात्मक विधान का संकेत भी देता है-

''मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची
अधिकारिणी थी,
अभी उम्र कुल तेईस की थी, मनुज नहीं
अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतंत्रता
नारी थी,

दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखाना थी।"

सुभद्राजी के 'मुकुल', 'नक्षत्र', 'त्रिधारा', 'सभा का खेल' काव्य संग्रहों में अंतर्निहित राष्ट्रीय चेतना के स्वरों की अभिव्यक्ति एक समूचे युग का आईना है। जिसमें स्वतंत्रता प्राप्ति की दिशा में स्वदेशी का प्रचार किया, असहयोग और अहिंसा की वकालत की गई है। मुक्तिबोध ने इस संदर्भ में लिखा है कि- ''राष्ट्रीय आंदोलन के यौवन का नवीन स्पर्श जिन्हें याद है, साहित्यिक भावोल्लास की वन-नवीन लहरियों का वह आत्मविश्वासपूर्ण सुनहरा प्रभात जिन्हें याद है, वे बतला सकते हैं कि सुभद्राजी के काव्य में अनूठापन कहां है, किस स्थान पर है, और क्यों है? उनके चमत्कार वर्णित काव्य में वह मौलिकता उत्पन्न हुई, वह रसग्राहिणी और रस प्रदायिनी शक्ति उत्पन्न हुई जिसके कारण उनके साहित्य के माध्यम से युग का और युग के माध्यम से उनके साहित्य का अध्ययन सफलतापूर्वक किया जा सकता है।" (सुभद्रा कुमारी चौहान की सफलता का रहस्य- ग.मा. मुक्तिबोध- हंस, अप्रैल, 1948)

सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झांसी की रानी', 'विदा' (राखी), 'वीरों का कैसा हो वसंत', 'जलियांवाले बाग में वसंत', 'राखी की चुनौती', 'विजया दशमी', 'मातृ मंदिर में', 'व्यथित हृदय' जैसी कविताएं राष्ट्रीय भावाधारित कविताओं का अप्रतिम उदाहरण हैं। भारत की परतंत्रता की बेड़ियों को काटने के लिए मन की उद्विग्नता के कारण ही उनकी कलम ने रची थीं ये पंक्तियां -

''आते हो भाई? पुनः पूछती हूं- कि माता के
बंधन की है लाज तुमको!
तो बंदी बनो, देखो बंधन है कैसा, चुनौती यह
राखी की है लाज तुमको।''

सुभद्रा कुमारी की राष्ट्र भावना ने स्त्री शक्ति को स्वाधीनता आंदोलन में एकजुट होकर भारत लक्ष्मी को लौटाने को घमासान युद्ध करने के लिए प्रेरित किया-

''पंद्रह कोटियां असहयोगियां
दहला दें ब्रह्मांड सखी,
भारत लक्ष्मी लौटाने को रच दें लंका कांड सखी।
अचलाएं उठ पड़ें देश में,
करें युद्ध घमासान सखी।"

''सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी।
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।"

रानी लक्ष्मीबाई की वीरता और साहस गाथा का यह बखान न जाने कितनों के अंतःकरण में स्वाधीनता के लिए संघर्ष और बलिदान की तत्परता पैदा करता था। महादेवी वर्मा ने सुभद्रा कुमारी चौहान के व्यक्तित्व की रेखाओं का चित्र बनाते हुए अपने एक संस्मरण में कहा है कि ''सुभद्राजी के व्यक्तित्व के भीतर बिजली का छंद था।'' उनकी 'झांसी की रानी' कविता उनकी कलम में भी बिजली का छंद होने की गवाही देती है।

कथा फलक पर भी सुभद्रा कुमारी चौहान ने देशभक्त चरित्रों को कथावस्तु में पिरोकर खड़ा किया।

भारतीय राजनैतिक, सांस्कृतिक संदर्भों को समेटती उनकी कहानियां भी पाठकों के अंतर्मन में राष्ट्रीय भावों को संचारित करने में सक्षम हैं। उनकी 'गुलाब सिंह' कहानी स्वाधीनता संग्राम के उपकरणों से निर्मित एक शक्तिशाली कहानी है जो दर्शाती है कि किस तरह अंग्रेजी हुकूमत के प्रति जन-जन में बढ़ता आक्रोश और जनमानस में आजादी की ललक ताजी हवा बन गई है, प्राणवायु बन गई है- ''एक दिन ऐसी हवा बही कि मुरझाए हुए मन में भी नई जान आ गई। एक ऐसी हवा होती है जो मुरझाए हुए पौधों में ताजगी ला देती है और एक ऐसी हवा होती है जो मुर्दा मन मनुष्यों में नई उमंग भर देती है। यह उमंगों वाली हवा थी।"

हिंदी को राष्ट्रीय एकता का आधार मानकर उन्होंने उसकी वंदना की। राष्ट्रीय जागरण के साथ हिंदी नवजागरण के लोक अभियान में सुभद्राजी ने कविताओं के माध्यम से हिंदी की अनिर्वचनीय शक्ति का अहसास कराया। उनका विश्वास था, स्वतंत्रता की रागिनी हिंदी में ही बजेगी। 'मातृ मंदिर' कविता में उनके भाव इस रूप में प्रकट हुए-

''तू होगी आधार, देश की
पार्लियामेंट बन जाने में
तू होगी सुख सार देश के
उजड़े क्षेत्र बसाने में
तू होगी व्यवहार देश के
बिछुड़े हृदय मिलाने में
तू होगी अधिकार, देशभर
को स्वातंत्र्य दिलाने में।"

सुभद्राजी का राष्ट्रीय कर्म साहित्य में भी और जीवन में भी प्रेरणा का स्रोत है। अपने साहित्य में सृजित 'राष्ट्रीय आदर्श' को उन्होंने अपने जीवन में जिया भी। स्वाधीनता आंदोलन में निरंतर सक्रियता भरी उपस्थिति दर्ज कराई। काफी समय तक वे मध्य प्रांत असेंबली की सदस्या भी रहीं। उन्होंने केवल अपनी लेखनी से ही क्रांतिकारिणी मूर्तियां नहीं गढ़ी वरन् जीवन में भी और स्वाधीनता आंदोलन में कई क्रांतिकारी कदम उठाकर स्वतंत्रता को बहुत बड़े मूल्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया। स्वतंत्रता को भारतीय अवधारणा के साथ इस तरह समझा और समझाया- ''मनुष्य की आत्मा स्वतंत्र है। फिर चाहे वह स्त्री शरीर में निवास करती हो चाहे

पुरुष शरीर के अंदर। ...चिर-प्रचलित रुढ़ियों और चिरसंचित विश्वासों को आघात पहुंचाने वाली हलचलों को हम देखना नहीं चाहते। हम ऐसी हलचलों को अधर्म समझकर आँख मींच लेना उचित समझते हैं, किंतु ऐसा करने से काम नहीं चलता। वह हलचल और क्रांति हमें बरबस झकझोरती है और बिना होश में लाए नहीं छोड़ती।"

सुभद्राजी की साहस और निर्भीकता का एक उदाहरण 'झंडा सत्याग्रह' के प्रसंग में मिलता है। सन् 1923 में जबलपुर म्यूनिसिपैलिटी में क्रांग्रेस का बहुमत हो गया था। सार्वजनिक स्थल पर राष्ट्रीय झंडा फहराने पर सरकारी प्रतिबंध था लेकिन कांग्रेसी बहुमत भवन पर झंडा फहराना चाहता था। सविनय अवज्ञा आंदोलन के संदर्भ में गठित कांग्रेस कार्यकारिणी की समिति के अध्यक्ष हकीम अजमल खां के हाथों जबलपुर म्यूनिसिपल दफ्तर सभा भवन पर झंडा फहराया गया। अंग्रेज सरकार का हुक्म था कि सार्वजनिक भवनों पर झंडा नहीं फहराया जाएगा। अतः सरकार द्वारा अपनी अवज्ञा बर्दाश्त न कर पाने के कारण झंडे को उतारकर पैरों से कुचल दिया गया। राष्ट्रीय झंडे का अपमान होने पर पं. सुंदर लाल ने दस आदमियों की सत्याग्रह समिति बनाई, जो तिरंगा लेकर कैंटोंनमेंट की तरफ बढ़ी। सुभद्राजी भी इन दस व्यक्तियों में से एक थीं। कैंटोनमेंट में घुसने से पहले ही पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अठारह साल की सुभद्राजी देश के लिए, सत्य के लिए जेल की यातना से डरी नहीं। 'झंडा सत्याग्रह' के राष्ट्रव्यापी आंदोलन में सुभद्राजी की कारगर भूमिका रही। सत्याग्रही राष्ट्रीय झंडा लेकर निकलते, पुलिस उन्हें हिरासत में लेती। जगह-जगह सभाएं होने लगीं। सुभद्रा भाषण देतीं और 'विजयिनी मां के वीर पुत्र/ पाप से असहयोग ले ठान' का उद्घोष कर लोगों में उत्साह का भाव भरतीं। इस प्रकरण पर अखबारों में, पत्र-पत्रिकाओं में सुभद्राजी और उनके पति लक्ष्मण सिंह के फोटो छपते और उसके नीचे कैप्शन के रूप में यह वाक्य लिखा जाता- 'झंडा बलि की आदर्श जोड़ी।' अखबारों में उन्हें 'लोकल सरोजिनी' कहकर उनकी तेजस्विता को सरोजिनी नायडू के समान बताकर उनकी प्रशंसा करते।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान वे जहां कहीं भी भाषण देती उसमें उनकी देशभक्ति का ओज दिखाई पड़ता। कांस्टीट्यूएंट एसेंबली में 22 सितंबर 1937 को दिए गए उनके भाषण में उनकी तेजस्विता प्रभावित करनेवाली है- ''ब्रिटिश सरकार के कारखाने में हमारे लिए फेडरेशन की बेड़ियां तैयार की जा रही हैं, और हमारे समझदार सलाहकार और हमारे सावधान सलाहकार हमें सलाह देते हैं कि उसे पहन लें, पहन के एक बार देखो तो सही कौन जाने एक बार पहनने के बाद वह कोई जेवर साबित हो। ऐसे सलाहकारों को हमारा उत्तर यही है कि बस अब बहुत हो चुका। अब हम इस रूपहले फंदे में नहीं फंसेंगे। अब हम ऐसा शासन विधान नहीं चाहते जिसमें 'मेड इन इंग्लैंड' की छाप लगी हो। हमें तो हिंदुस्तान में बनाया हुआ हिंदुस्तानियों के द्वारा बनाया हुआ और हिंदुस्तानियों के हित के लिए ही बनाया हुआ ऐसा शासन विधान चाहिए। सच बात तो यह है कि हिंदुस्तान की आत्मा विदेशी सत्ता के खिलाफ अब क्रांति कर बैठी है।"

सुभद्राजी ने विपरीत परिस्थितियों में भी जीवन को उत्साह और उमंग के साथ जीना सीखा था। 'मैंने हँसना सीखा है मैं नहीं जानती रोना' उनका यह वाक्य उनके जीवन की संजीवनी शक्ति था। 'हँस-हँस जीवन में कैसे करती है चिंता क्रीड़ा' यह स्वयं सुभद्राजी के जीवन के तमाम अध्यायों में इसके पाठ मिल जाएंगे।

उनके देहावसान पर माखनलाल चतुर्वेदी ने उनकी राष्ट्र भावना को इन शब्दों में नमन किया- ''सुभद्राजी का आज चल बसना प्रकृति के पृष्ठ पर ऐसा लगता है मानो नर्मदा की धारा बिना तट के पुण्य तीर्थों के सारे घाट अपना अर्थ और उपयोग खो बैठे हों। सुभद्राजी का जाना ऐसा मालूम होता है मानों 'झांसी वाली रानी' की गायिका झांसी की रानी से कहने गई हो कि लो फिरंगी खदेड़ दिया गया और मातृभूमि आजाद हो गई। सुभद्राजी का जाना ऐसा लगता है मानो अपने मातृत्व के दुग्ध, स्वर और आँसुओं से उन्होंने अपने नन्हें पुत्र को कठोर उत्तरदायित्व सौंपा हो। प्रभु करे, सुभद्राजी को अपनी प्रेरणा से हमारे बीच अमर करके रखने का बल इस पीढ़ी में हो।"

इस तरह स्वातंत्र्य आंदोलन के इतिहास में, स्वाधीनता की संप्रेषित होती हुई परिभाषा के काल में, आजादी की आकांक्षा जगाने में, स्वातंत्र्य पथ पर जेल की यातनाएं झेलकर स्वाधीनता के स्वप्न को साकार करने में सुभद्रा कुमारी चौहान की सक्रिय भूमिका रही है। राष्ट्रीय चेतना में संघर्ष और कर्म का समन्वय कर स्वातंत्र्य आंदोलन को सही दिशा दी। आजादी के मतवालों का मनोबल ऊंचा किया। देश के प्रति गहरी मानसिक संसक्ति के कारण उनका साहित्य आज भी देश के प्रति राष्ट्र भाव को मजबूती प्रदान करता है। 'विश्वास, प्रेम साहस हैं जीवन के साथी मेरे' कहने वाली सुभद्रा कुमारी चौहान आज केवल राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा की कवयित्री के पद में ही याद नहीं की जाती हैं बल्कि उनका व्यक्तित्व और कृतित्व स्त्री सशक्तिकरण की भारतीय अवधारणा की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में भी याद किया जाता है। ■

साहित्य और राज्यसत्ता

श्रीभगवान सिंह
आलोचक

संपर्क : 102, अम्बुज टॉवर, तिलकामांझी
भागलपुर-812001 (बिहार)

साहित्य और राज्यसत्ता के बीच किस प्रकार का संबंध हो, यह बीसवीं सदी से साहित्यिक विमर्श का अहम् मुद्दा रहा है। पश्चिमी चिंतनधारा में साहित्य की भूमिका राज्यसत्ता के प्रतिपक्ष के रूप में रेखांकित करनेवाली रही है। पश्चिम में इसकी परंपरा राजनीतिशास्त्र के पिता माने जानेवाले यूनानी दार्शनिक प्लेटो के समय से ही चली आ रही है। ज्ञातव्य है कि प्लेटो ने 'भाव' को चरम सत्य मानते हुए वस्तु-जगत को उसका अनुकरण 'सत्य से दूर' की चीज माना था और काव्य को वस्तुजगत का अनुकरण मानते हुए उसे 'सत्य' से और अधिक दूर की चीज माना था। दूसरे शब्दों में प्लेटो की दृष्टि में काव्य या साहित्य का आधार सत्य नहीं, बल्कि मिथ्या है। मिथ्याधारित होने के कारण ही प्लेटो ने काव्य को अपने परिकल्पित 'आदर्श राज्य' में स्थान नहीं दिया, यानी उसने काव्य को एक तरह से राज्य का प्रतिपक्ष मान लिया था। हालांकि उसकी इस अवधारणा में उसके शिष्य अरस्तू ने जरूर सुधार किया, लेकिन मध्यकाल तक आते-आते यूरोप के राज्यों में जिस तरह राजशाही का निरंकुश चरित्र हो गया, उसके बरक्स साहित्य मुखर होने लगा। फ्रांसीसी राज्य क्रांति (1789) या फिर रूसी क्रांति (1917) जैसी युगांतरकारी घटनाओं में लेखकों, बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों ने जो भूमिका निभाई उससे यह धारणा और अधिक बलवती हुई कि राज्यसत्ता का विरोध करना ही साहित्य का धर्म है। तब से यह मान्यता चल पड़ी कि साहित्यकार को अपने लेखन से राज्यसत्ता का प्रतिपक्ष खड़ा करना चाहिए, जनता में राज्यसत्ता के प्रति प्रतिरोध की भावना जागृत करनी चाहिए। इस पश्चिमी अवधारणा के प्रभावांतर्गत ही भारतवर्ष में भी, विशेषकर हिंदी साहित्य में, साहित्य को राज्यसत्ता का मुखर विरोधी के रूप में चिह्नित किया जाने लगा, उसका मुख्य काम सत्ता का विरोध करना बताया जाने लगा। लेकिन साहित्य और राज्यसत्ता के आपसी संबंध को लेकर भारतीय दृष्टिकोण इसके विपरीत रहा है।

फ्रांसीसी राज्य क्रांति (1789) या फिर रूसी क्रांति (1917) जैसी युगांतरकारी घटनाओं में लेखकों, बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों ने जो भूमिका निभाई उससे यह धारणा और अधिक बलवती हुई कि राज्यसत्ता का विरोध करना ही साहित्य का धर्म है।

दरअसल, साहित्य और राज्यसत्ता के संबंध को समझने के लिए सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि इन दोनों को देखने-समझने का हमारा दृष्टिकोण क्या है! साहित्य संबंधी भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिहाज से गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर के 'रामायण' शीर्षक निबंध का यह अंश काफी उपयोगी है। इस निबंध में गुरुदेव कवियों की दो श्रेणियों का उल्लेख करते हुए जिस दूसरी श्रेणी के कवियों को अत्यंत महत्व देते हैं, उनके संबंध में उनका कहना है-''दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के भीतर से एक समग्र देश, एक समग्र युग अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को व्यक्त करके उसे मानव की चिरंतन सामग्री बना देता है। इसी दूसरी श्रेणी के कवि को महाकवि की संज्ञा दी जाती है। समग्र देश की, समग्र जाति की सरस्वती इन्हें अपना आश्रय बना पाती है, ये लोग जो रचना करते हैं वह किसी व्यक्ति-विशेष की रचना नहीं जान पड़ती। ऐसा लगता है कि जैसे वह विशाल वनस्पति के समान देश की धरती से पैदा होकर उसी देश को आश्रय और छाया दे रही है।'' (रवींद्रनाथ ठाकुर : प्रतिनिधि निबंध, सं. डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 72, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली) श्री ठाकुर का यह कथन साहित्य के बारे में पूरे भारतीय सोच को प्रकट करता है अर्थात् हमारे यहां साहित्य को सत्य से दूर, मिथ्याधारित रूप में, जैसा कि प्लेटो का कहना था, नहीं देखा-समझा गया, अपितु उसे समग्र देश, समग्र समाज, समग्र युग, पूरी प्रकृति की अभिव्यक्ति के रूप में देखा गया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमारे शीर्षस्थ समालोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा कि 'काव्यशेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंधों

की रक्षा और निर्वाह का साधन है।''

साहित्य के संबंध में भारतीय चित्त में रची-बसी ऐसी मान्यताओं की तार्किक परिणति के रूप में यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जब साहित्य 'समग्र देश', 'समग्र युग' या 'शेष सृष्टि' की अभिव्यक्ति है, तो जो राज्यसत्ता इसी समग्र देश या युग का एक अनिवार्य अवयव है, ईकाई है, वह भी साहित्य के सर्वसमावेशी चरित्र में स्थान पाएगा ही। इस सोच का ही परिणाम हुआ कि हमारे यहां राजनीति या राज्यसत्ता के विमर्श को साहित्य से बाहर नहीं रखा गया, न उसे राज्यसत्ता का प्रतिपक्षी मात्र माना गया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में चार पुरुषार्थों को मान्य करते हुए साहित्य में इन चारों का समावेश होता रहा, अर्थ के अंतर्गत ही राजनीतिक विमर्श स्थान पाता रहा। यह बात हमारे अत्यंत प्राचीन काव्य-ग्रंथ 'रामायण' और 'महाभारत' से भी सिद्ध होती है। इन ग्रंथों में राजा और प्रजा के पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का विशद् विवेचन मिलता है।

दूसरी बात कि हमारे यहां राजा और प्रजा के बीच पश्चिमी चिंतन की तरह शासक और शासित का संबंध नहीं माना गया, बल्कि पिता और पुत्र जैसे संबंध को मान्य किया गया। पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने अपने निबंध 'पृथु वैन्य का अभिषेक' में बताया है, ''उसके (पृथु) अभिषेक करनेवालों ने सोचा था कि यह हम सबको फैलाएगा।'' इससे उसका नाम पृथु हुआ। यह हम सबको क्षतों से बचाएगा, इससे 'क्षत्रिय' हुआ। इस पृथु वैन्य को देखकर प्रजागण बोल उठे कि ''हम रंज गए, रीझ गए।'' इसी अनुराग से उसका नाम 'राजा' हुआ। (गुलेरी रचना-संचयन, पृ. 137, प्र. साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली) अर्थात् राजा वह जिसके कार्य प्रजा को रिझानेवाले,

साहित्य और राज्यसत्ता के संबंध को समझने के लिए सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि इन दोनों को देखने-समझने का हमारा दृष्टिकोण क्या है! साहित्य संबंधी भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिहाज से गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर के 'रामायण' शीर्षक निबंध का यह अंश काफी उपयोगी है। इस निबंध में गुरुदेव कवियों की दो श्रेणियों का उल्लेख करते हुए जिस दूसरी श्रेणी के कवियों को अत्यंत महत्व देते हैं, उनके संबंध में उनका कहना है-

''दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के भीतर से एक समग्र देश, एक समग्र युग अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को व्यक्त करके उसे मानव की चिरंतन सामग्री बना देता है।''

प्रसन्न करनेवाले हों, ठीक वैसे ही जैसे एक पिता अपने पुत्र के लिए ऐसे कार्य करता है। जाहिर है जब राजा और प्रजा के बीच पिता-पुत्र जैसा संबंध मान्य होगा, तब स्वाभाविक है कि इन दोनों के बीच केवल विरोध या प्रतिरोध का नहीं, बल्कि संवाद का संबंध हो और यही कारण रहा कि हमारी भारतीय परंपरा में साहित्य और राज्यसत्ता के बीच संवाद का संबंध-निर्वाह ही ज्यादा होता आया है। यह भी जाहिर है कि संवाद में सहमति और असहमति दोनों होती हैं, केवल प्रतिरोध नहीं होता और इसी से साहित्य राज्यसत्ता का प्रजा-रंजन के निमित्त पथ-प्रदर्शन का काम करता था। सचमुच प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक भारतवर्ष में साहित्य और राज्यसत्ता के बीच इस संवाद-परंपरा का पोषण होता आया है।

हमें प्राचीन भारत का प्रामाणिक इतिहास अब तक ज्ञात नहीं हो सका, किंतु अनेक कथाओं एवं आख्यानों से यह जानकारी मिलती है कि तपोवन में रहकर ऋचाओं, मंत्रों एवं ग्रंथों की रचना करने वाले ऋषियों का भी अपने युग के राजाओं से संवाद-सूत्र जुड़ा हुआ था। अनेक पौराणिक वृत्तांतों से ज्ञात होता है कि राजा स्वयं समय-समय पर तपोवनों में जाकर ऋषियों-मुनियों से संवाद कर राज्य-प्रबंधन हेतु दिशा-निर्देश प्राप्त किया करते थे। 'महाभारत' के रचयिता व्यास राज्यसत्ता से दूर रहते हुए भी समयानुसार राजदरबार में जाकर निर्भीकतापूर्वक परामर्श दे आया करते थे। जब-जब धृतराष्ट्र को अनीति, अधर्म की ओर अग्रसर होते देखा, तब-तब व्यास ने जाकर उसे समझाया, उचित परामर्श दिया और अवज्ञा करने पर उसे फटकार भी लगाई। वाल्मीकि के संबंध में भी कहा जाता है कि उन्होंने अपनी 'रामायण' का राम-दरबार में लव-कुश द्वारा गायन करा कर प्रस्तुत किया था। यही नहीं, उन्होंने अपने आश्रम में निष्कासित सीता को आश्रय देकर प्रकारांतर से राज्यसत्ता के साथ संवाद का ही रिश्ता कायम किया था। विदेह कहे जानेवाले राजा जनक का दरबार तो अपने जमाने का महासंवाद-स्थल था। रवींद्रनाथ अपने तपोवन शीर्षक निबंध में लिखते हैं- ''किसी समय जनक जैसे राजा एक ओर अपने हाथ से हल चला कर खेती करते थे

और दूसरी ओर देश-देशांतर से आए हुए ज्ञान-पिपासु लोगों को ब्रह्मविद्या सिखाते थे।''

वस्तुतः यहां के 'राजा-महाराजाओं' ने भी जैसा कि रवींद्रनाथ कहते हैं, ''प्राचीनकाल के वनवासी तपस्वियों को आदि पुरुष मानकर गौरव का अनुभव किया है। पौराणिक कथाओं में जो कुछ आश्चर्यजनक है, पवित्र है, जो कुछ श्रेष्ठ और पूजनीय है, वह प्राचीन तपोवनों की स्मृति से विजड़ित है।'' स्पष्ट है कि तपोवन काल में लिखे गए साहित्य का राज्यसत्ता से संवाद-सूत्र जुड़ा रहा। तपोवन काल के बाद भी राज्यसत्ता से साहित्य के संवाद का यह सिलसिला रुका नहीं और मध्यकाल तक यह परंपरा चलती आई। यहां पर बहुतों का नहीं, मुख्य रूप से दो साहित्यिक कृतियों 'रघुवंशम्' और 'रामचरितमानस' का इस दृष्टि से उल्लेख करना चाहूंगा।

विक्रमादित्य के शासन-काल तक आते-आते तपोवन युग बीत चुका था। सर्वविदित है कि विक्रमादित्य ने कला, विद्या, साहित्य से संबद्ध नौ विभूतियों को अपने यहां राज्याश्रय दे रखा था जो 'नवरत्न' कहलाते थे। इन्हीं नवरत्नों में एक थे कवि-कुल भूषण कालिदास। कालिदास राज्याश्रय देनेवाले राजा की बिरूदावली गाने वाले कवि नहीं थे, बल्कि राज्यसत्ता के साथ एक स्वस्थ, उच्च धरातल पर संवाद का संबंध बनाकर रखने वाले थे। उनका महाकाव्य 'रघुवंश' आमतौर पर रघुवंशी राजाओं का प्रशस्ति-गान समझा जाता है, किंतु वास्तव में वह अपने युग का एक महान राजनीतिक संवाद का आख्यान है। निःसंदेह, कालिदास ने इस काव्य में रघुवंशी राजाओं-दिलीप से लेकर रामचंद्र तक का गौरव गान किया है, लेकिन किन कारणों से किया है उसका उल्लेख वे भूमिका स्वरूप इन शब्दों में करते हैं- ''जो राजा आजीवन शुद्ध रहते थे, जो फलप्राप्ति के लिए कार्य करते थे, जिनका समुद्र तट तक राज्य था और स्वर्ग तक रथ-मार्ग था, जो अग्नि में यथाविधि आहुति दिया करते थे और प्रार्थियों की इच्छा-पूर्ति करते थे, जो अपराध के अनुसार दंड देते थे और उचित समय जाग उठते थे, जो त्याग के लिए अर्थ संचय करते थे, सत्य के लिए मितभाषी थे, यश के लिए विजयोन्मुख थे और संतान-प्राप्ति के लिए विवाह करते थे, जिनका बचपन विद्यार्जन में बीतता था, जो यौवन में विषय पूर्ति करते थे, वार्धक्य में मुनि-वृत्ति ग्रहण करते थे और योग-साधना के बाद जिनका देहांत होता था-रघुवंश के उन्हीं राजाओं का मैं गुणगान करूंगा।'' कवि अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुरूप रघुवंश की गौरव-गाथा को रामचंद्र के जीवन तक उच्चतम शिखर पर पहुंचाता है, लेकिन वह यहीं पर विराम नहीं लेता। रवींद्रनाथ के शब्दों में ''गुण-कीर्तन में ही यह काव्य समाप्त नहीं होता। कवि किस बात से इतने विचलित हुए थे यह हम 'रघुवंश' के परिणाम को देख कर समझ सकते हैं।''

जाहिर है जब राजा और प्रजा के बीच पिता-पुत्र जैसा संबंध मान्य होगा, तब स्वाभाविक है कि इन दोनों के बीच केवल विरोध या प्रतिरोध का नहीं, बल्कि संवाद का संबंध हो और यही कारण रहा कि हमारी भारतीय परंपरा में साहित्य और राज्यसत्ता के बीच संवाद का संबंध-निर्वाह ही ज्यादा होता आया है। यह भी जाहिर है कि संवाद में सहमति और असहमति दोनों होती हैं, केवल प्रतिरोध नहीं होता और इसी से साहित्य राज्यसत्ता का प्रजा-रंजन के निमित्त पथ-प्रदर्शन का काम करता था। सचमुच प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक भारतवर्ष में साहित्य और राज्यसत्ता के बीच इस संवाद-परंपरा का पोषण होता आया है।

वस्तुतः कालिदास रघुवंशी राजाओं के गुणगान करने तक नहीं रूक जाते, बल्कि वे रामचंद्र के परवर्ती शासक अग्निवर्ण तक आते हैं और बता जाते हैं कि कैसे अपने महान पूर्वजों के उपर्युक्त गुणों से स्खलित होकर, सुरापान, इंद्रिय-सुख, रमणियों-संग रमण तथा विलासमय जीवन में लिप्त तथा प्रजा-रंजन से विमुख होकर अग्निवर्ण रघुकुल की उज्ज्वल कीर्ति के विनाश का कारण बनता है, अर्थात् कालिदास रघुवंशी राजाओं के इस आख्यान से अपने युग के राजाओं को यह संदेश दे जाते हैं कि प्रजा-रंजन से विमुख होकर केवल निजी इंद्रिय-सुख एवं विलास में निमग्न रहने वाली राज्यसत्ता अंततः अधोगति को प्राप्त होने को बाध्य होती है। यह था राजदरबार में रहते हुए राजा को राजधर्म बताने का संवादी तरीका।

राज्यसत्ता के साथ संवाद का यह सिलसिला कमोवेश कालीदास के परवर्ती काल में भी चलता रहा। अंतिम हिंदू सम्राट माने जाने वाले हर्षवर्धन तक इस परंपरा का निर्वाह होते देखा जा सकता है जिनके

दरबार में बाणभट्ट जैसे उच्च कोटि के साहित्यकार को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। बाद में अफगानों, तुर्कों के लगातार होते रहे आक्रमणों तथा देशी राजाओं के आपसी सत्ता-संघर्ष के कारण साहित्य का राज्यसत्ता के साथ वैसा स्वस्थ संवाद नहीं रह सका जो पहले था। लेकिन मुगल काल तक आते-आते इस परंपरा का पुनर्भव होता दिखाई देता है। सम्राट अकबर जहां एक तरफ साम्राज्यवादी विस्तार के लिए आकुल-व्याकुल रहा करता था, वहीं उसने अपने दरबार को नाना कलावंतों, कवियों, मतावलंबियों के साथ संवाद का मनोरम स्थल भी बना रखा था। रहीम, अबुलफजल, बीरबल, तानसेन आदि तो उसके नवरत्नों में थे ही इसके अतिरिक्त जैनियों, पारसियों, हिंदू-मुस्लिम मतावलंबियों का भी वहां जमघट लगा रहता था। इसी मुगल परंपरा का निखार शाहजहां के शासन काल में दिखाई देता है जहां एक तरफ उसका अपना ही पुत्र दाराशिकोह नाना धर्मावलंबियों के साथ संवाद का नेतृत्व करता था, खुद उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करता था, तो दूसरी तरफ संस्कृत के पंडित राजजगन्नाथ जैसे काव्यशास्त्री को उसके दरबार में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। संवाद के इस मुगलिया वातावरण में ही तुलसीदास जैसे कवि 'रामचरितमानस' जैसा महाकाव्य लिखते हैं।

यों तो 'रामचरितमानस' का ही नहीं अपितु इस काल के सभी कवियों के काव्य का महत्व ईश्वर-भक्ति के नजरिए से मापा जाता रहा, इसीलिए तो इसे भक्तिकाल कहा गया। इस काल के कवियों की खासियत रही कि उन्होंने किसी राजा का राज्याश्रय नहीं स्वीकार किया, न ही राजसत्ता या राज्य-प्रबंधन को लेकर संवाद-विवाद किया। सामाजिक एवं धार्मिक स्तर पर विद्यमान विषमता एवं रूढ़ियों के विरुद्ध वे जरूर खूब मुखर रहे, लेकिन राज्यसत्ता के साथ उन्होंने तटस्थता का ही निर्वाह किया। लेकिन तुलसी उस काल के जरूर ऐसे कवि हैं जो राज्याश्रय से दूर रहकर भी अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' के जरिए राज्यसत्ता का सशक्त विमर्श प्रस्तुत करते हैं। जिस तरह कालिदास ने 'रघुवंशम्' में रघुवंशी राजाओं के उत्थान, उत्कर्ष तथा पतन का आख्यान प्रस्तुत कर अपने समय के राजपुरुषों को उनके प्रजा-पालक कर्त्तव्य का बोध कराया था, उसी तरह तुलसी भी रामाख्यान के जरिए यह काम करते दिखाई देते हैं। मसलन, राम का यह कथन कि 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी' या फिर गुरु बशिष्ठ का यह कथन कि 'सोचिए नृपति जो नीति न जाना, जेहि न प्रजा प्रिय प्राण समाना' आदि के माध्यम से तुलसी अपने समय के राजाओं को ही प्रजा के प्रति कर्तव्य का बोध कराते हैं। राजा का व्यवहार प्रजा के साथ कैसा होना चाहिए इस संबंध में वे अपने राम से ही यह कहलवाते हैं- 'मुखिया मुख सो चाहिए खान-पान कहुं एक, पालइ-पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक।' फिर अंत में तो वे राजाओं के सामने रामराज्य का आदर्श ही प्रस्तुत कर जाते हैं जिसमें कुशल राज्य-प्रबंधन के कारण किसी स्त्री-पुरुष को दैहिक-दैविक, भौतिक ताप नहीं है। राजा के कर्तव्याकर्तव्य को लेकर तुलसी का बड़ा ही सटीक दोहा उनकी 'दोहावली' में इस प्रकार है- ''बरशत हरशत लोग सब, करशत लखै न कोई। तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु सो होई।'' इस प्रकार तुलसी ने भक्ति की ओट में अपने समय की राजसत्ता से निर्भीक संवाद का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उसे दुष्कर्मों के दुष्परिणाम से आगाह भी किया और प्रजा हित में राज्य संचालन के निमित्त दिशा-निर्देश भी दिए। अफसोस कि यह परंपरा रीतिकाल में चूक गई। रीतिकालीन कवियों का संबंध राज्याश्रय से तो रहा लेकिन प्रजावर्ग के सुख-दुख से विमुख ये कवि केवल अपने आश्रयदाता विलासी राजाओं की अभिरुचि के अनुरूप मनोरंजनार्थ शृंगारपरक

वस्तुतः कालिदास रघुवंशी राजाओं के गुणगान करने तक नहीं रूक जाते, बल्कि वे रामचंद्र के परवर्ती शासक अग्निवर्ण तक आते हैं और बता जाते हैं कि कैसे अपने महान पूर्वजों के उपर्युक्त गुणों से स्खलित होकर, सुरापान, इंद्रिय-सुख, रमणियों-संग रमण तथा विलासमय जीवन में लिप्त तथा प्रजा-रंजन से विमुख होकर अग्निवर्ण रघुकुल की उज्ज्वल कीर्ति के विनाश का कारण बनता है, अर्थात् कालिदास रघुवंशी राजाओं के इस आख्यान से अपने युग के राजाओं को यह संदेश दे जाते हैं कि प्रजा-रंजन से विमुख होकर केवल निजी इंद्रिय-सुख एवं विलास में निमग्न रहनेवाली राज्यसत्ता अंततः अधोगति को प्राप्त होने को बाध्य होती है। यह था राजदरबार में रहते हुए राजा को राजधर्म बताने का संवादी तरीका।

कविताएं लिखने में मशगूल रहे।

इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक भारतवर्ष में लिखे जानेवाले साहित्य की मुख्यधारा का राज्यसत्ता के साथ संबंध संवाद का रहा, केवल प्रतिरोध या विरोध का नहीं रहा। लेकिन यह तथ्य भी ध्यान रखने लायक है कि राज्यसत्ता के साथ संवाद को उन साहित्यकारों ने धन या पद प्राप्त करने का साधन नहीं बनाया। दरअसल, राज्यसत्ता का साहित्य में प्रतिरोधी स्वर ब्रिटिश शासन की उपज है। मुगलकाल तक तो साहित्यकारों, संस्कृतिकर्मियों के साथ राज्यसत्ता का अपवादस्वरूप एकाध घटना को छोड़ कर, सौहार्द्रपूर्ण संवाद का रिश्ता कायम रहा, क्योंकि मुगलों ने अपने विदेशीपन को छोड़कर इस देश को अपना वतन कबूल कर लिया था। लेकिन यह बात अंग्रेजों के साथ नहीं घटित हुई। वे अपने विलायती रोआब में रहकर विदेशी होने का अहसास करते हुए यहां के आवाम पर हुकूमत करना चाहते थे, इसलिए यहां के संवेदनशील, स्वाभिमानी लोग पराधीनता का दंश महसूस करने लगे और इस पराधीनता के विरुद्ध 1857 के स्वाधीनता संग्राम के उपरांत साहित्य के क्षेत्र में राज्यसत्ता के विरुद्ध प्रतिरोधी स्वर उभरने लगा। यह स्वर उत्तरोत्तर चहुंओर व्यापक होता गया तब तक जब तक देश उपनिवेशवादी शासन के जुए से मुक्त नहीं हो गया। वस्तुतः उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक हमारे देश की विभिन्न भाषाओं में लिखित साहित्य में राज्यसत्ता के प्रतिरोध के स्वर, जो पराधीनता के प्रतिरोध का स्वर था, का बने रहने के पीछे औपनिवेशिक शासन की उपस्थिति मुख्य कारण थी।

इसे देखते हुए यह विचारणीय हो जाता है कि क्या स्वतंत्र एवं लोकतांत्रिक देश में भी साहित्य को राज्यसत्ता का केवल प्रतिपक्षी, प्रतिरोधी बनकर पेश आना चाहिए या फिर एक संवाद का संबंध बनाना चाहिए। स्वतंत्रता के उपरांत भारत में साहित्यकारों ने प्रतिरोध का तेवर कम करते हुए लोकतांत्रिक शासन के प्रति बहुत हद तक सौहार्द्रपूर्ण संवाद कायम करने के प्रयास किए। आजादी के बाद जिसे भारतीय राजनीति में 'नेहरू युग' (1950-1960 के बीच) कहा जाता है, में यह काम खूब हुआ। उल्लेखनीय है यह वही दौर है जब जैनेंद्र कुमार 'भारत के संदेशाधिकारी' जैसा निबंध तथा 'जयवर्द्धन' जैसा उपन्यास लिखकर तो सुमित्रानंदन पंत, 'नेहरू युग' जैसी कविता लिखकर और 'गांधीवाद की शव-परीक्षा' लिखने वाले यशपाल 'अमिता' जैसा उपन्यास लिख कर अपने-अपने ढंग से नेहरू शासन के साथ संवाद सूत्र स्थापित करते हैं। यही नहीं, इस दौर में मुक्तिबोध भी नेहरू के पक्ष में कई प्रशंसात्मक लेख लिखते हैं और जब 1955 में समाजवादी सोवियत संघ के नेता खुश्चेव बुल्गानीन भारत आए तो इसे नेहरू युग की एक उपलब्धि मानते हुए नागार्जुन ने भी कविता लिखी-'दोन-वोलगा, जमुना-गंगा हो रही एक'। इस अवधि में रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसी सांस्कृतिक विमर्श की पुस्तक लिखी जिसकी प्रस्तावना लिखी प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने। इन्हीं बातों को लक्ष्य करते हुए डॉ. नामवर सिंह वाजिब ही कहते हैं-''1950-59 के बीच नई कविता के रूप में सृजनात्मक संभावनाओं का जो अभूतपूर्व आवेश दिखाई पड़ता है उसका श्रेय समकालीन परिवेश के साथ कवि की इस रागात्मक संगति को देना अनुचित न होगा। इस वातावरण में जो भी विसंवादी स्वर निकला अपने आप में डूब गया। सृजनशीलता का जादू ऐसा चला कि किसी भी प्रकार के आलोचनात्मक स्वर के लिए गुंजाइश नहीं रही। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन ही नहीं, मुक्तिबोध की आवाज भी इस 'सृजनक्षण' में डूब गई। स्वाधीनता की पहली लहर में कुछ ऐसा लगा जैसे जब रोमानवाद का पुनरूत्थान हो रहा है।'' (कविता के नए प्रतिमान, पृ. 86) लेकिन 1962 में भारत पर हुए चीनी आक्रमण के कारण नेहरू-युग के प्रभा-मंडल से मोहभंग का दौर शुरू हो जाता है। एक समय 'लोकदेव नेहरू' जैसी पुस्तक लिखनेवाले कवि दिनकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखकर नेहरू-युग को

इस काल के कवियों की खासियत रही कि उन्होंने किसी राजा का राज्याश्रय नहीं स्वीकार किया, न ही राजसत्ता या राज्य-प्रबंधन को लेकर कोई संवाद-विवाद किया। सामाजिक एवं धार्मिक स्तर पर विद्यमान विषमता एवं रूढ़ियों के विरुद्ध वे जरूर खूब मुखर रहे, लेकिन राज्यसत्ता के साथ उन्होंने तटस्थता का ही निर्वाह किया। लेकिन तुलसी उस काल के जरूर ऐसे कवि हैं जो राज्याश्रय से दूर रहकर भी अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' के जरिए राज्यसत्ता का सशक्त विमर्श प्रस्तुत करते हैं।

प्रश्नांकित करते हैं, तो राजकमल चौधरी, धूमिल जैसे कवि अपनी कविताओं द्वारा राज्यसत्ता का प्रतिपक्ष रचने लगते हैं। 1967 में शुरू हुआ नक्सलबाड़ी आंदोलन ने इसे और त्वरा प्रदान की और राज्यसत्ता के विरोध में क्रांति, विद्रोह, विप्लव की आग उगलनेवाली कविताएं आने लगीं और जिस किसी रचनाकार ने अगर अच्छी नीयत से भी सत्तापक्ष की तरफदारी की तो उसके लिए 'पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है' या 'सत्ता के दलाल' जैसे जुमले चल पड़े। यही स्थिति अब तक चली आ रही है।

यहीं पर यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि क्या एक लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में जनता द्वारा चुनी गई सरकार के प्रति साहित्य का दायित्व केवल विरोध का होगा या संवाद का? जब हमारे यहां प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक राजतंत्र-राजाओं के साथ सहमति - असहमति का संवाद होता रहा, तो फिर जनता द्वारा चुनी गई सरकार के प्रति क्यों केवल विरोध का ही संबंध होना चाहिए? मेरी समझ में जनतंत्र में शासन या राजसत्ता के साथ साहित्य का संबंध रचनात्मक संवाद का ही होना चाहिए। इसमें साहित्य की कोई अवमानना नहीं है, बशर्ते यह संवाद पुरस्कार या पद-प्राप्ति के लोभ से न किए जाएं। गड़बड़ी तब होती है जब कतिपय लेखक, कवि संवाद को पुरस्कार-प्रबंधन का साधन बनाने लगते हैं या फिर दलीय या संगठन प्रतिबद्धता के शिकार होकर संवाद को पक्षपातपूर्ण बनाने लगते हैं। मसलन, बाबरी मस्जिद के विध्वंस पर जिन लेखकों, कवियों ने राज्यसत्ता को खूब कोसा, जो उचित था, वे ही नंदीग्राम, सिंगुर जैसे मामलों पर मौनव्रती बने रहे। सांप्रदायिकता का विरोध करनेवालों को कलम को लकवा मार गया जब पश्चिम बंगाल की सरकार ने तसलीमा नसरीन को कोलकाता में आश्रय देने से इंकार कर दिया, क्योंकि तब उनके अपने वामदल की सरकार मौजूद थी। ऐसे पक्षपातपूर्ण विरोध और समर्थन से साहित्य लोकतंत्र में अपनी विश्वसनीय भूमिका हर्गिज नहीं निभा सकता।

अतएव वर्तमान लोकतांत्रिक, जनतांत्रिक शासन-प्रणाली में आवश्यक है कि सभी लेखक, कवि एवं संस्कृतिकर्मी अपने को सांगठनिक बाड़ों तथा दलीय प्रतिबद्धताओं से मुक्त करते हुए अपने लेखन से प्रजातांत्रिक-जनता द्वारा मताधिकार के अधिकार से चुनी गई सरकारों से संवाद करें। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास की परंपरा से पाथेय ग्रहण करते हुए सत्ताधारियों को जनहित में, लोकहित में चेतावें, उनकी आँखों में अंगुली डालकर उनके कर्त्तव्य की ओर ध्यान आकृष्ट करें बगैर किसी पुरस्कार, पद-प्राप्ति के लोभ के। केवल फ्रांसीसी राज्य क्रांति या रूसी क्रांति का तोतारटंत पाठ करते हुए साहित्य को प्रजातांत्रिक शासन-व्यवस्था का मात्र प्रतिपक्ष के रूप में देखना न जनतांत्रिक है, न भारतीय साहित्य चिंतन परंपरा इसकी अनुमति देती है। ■

गांधी : एक टीस-सी उठती है

■ **प्रभु जोशी**
विचारक

संपर्क : 303, गुलमोहर निकेतन
वसंत विहार,
बांबे हॉस्पीटल के पीछे,
इंदौर-452010, (मध्य प्रदेश)

हमने पंद्रह अगस्त 1947 को जो साम्राज्यवाद से अपनी आजादी छीनी थी, उसे हमने 24 जुलाई, 1991 को 'संरचनाग्रस्त-समायोजन' के नाम पर, जो बेलआउट डील थी, उस पर हस्ताक्षर करके आने वाले पांच सौ वर्षों के लिए, देश की आजादी को बेच दिया है और अब हम 'नव-उपनिवेशवाद' के गुलाम हो गए हैं।

अब हमें यह बात कतई विस्मित नहीं करती कि हमारी राजनीतिक और सामाजिक जीवन की बहसों में गांधी, एक सिरे से अनुपस्थित हैं। वे विस्मृत ही नहीं बल्कि कहा जाना चाहिए कि लगभग बहिष्कृत हैं, जिन्हें हमने उपेक्षा के धूसर लत्ते में लपेटकर, 'विस्मृति के तलघर' में रख दिया है। बस, कभी-कभी जब राजनीति का पंचांग बताता है कि उनके श्राद्ध की तिथि आ गई है तो हमें उन्हें उस तलघर से उठा कर बाहर लाते हैं। उनपर जमी हुई धूल को झाड़ते-पोंछते हैं, बाद इसके सूत की लच्छियां और फूल चढ़ाते हैं और फिर उन्हें उसी तलघर में वापस पहुंचा आते हैं। उनका उल्लेख आते ही कहा जाता है कि इस 'भूमंडलीकृत-समय' में गांधी हमेशा के लिए पूरी तरह अप्रासंगिक हो चुके हैं।

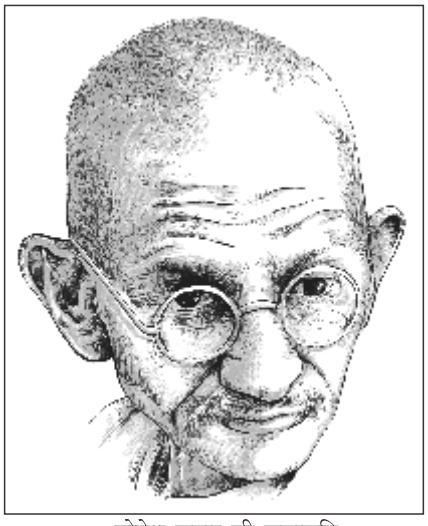
सोमेश कुमार की कलाकृति

जबकि हकीकत यह है कि गांधी इस उत्तर-औपनिवेशिक समय में बहुत शिद्दत से याद किए जा रहे हैं। चूंकि दुनिया भर के 'उच्च अध्ययन संस्थानों' में चलने वाली बहसों और विमर्शों में, वे केंद्रीय होते जा रहे हैं। चिंतकों की अंतरराष्ट्रीय बिरादरी कहने लगी है कि गांधी कितने वर्षों पहले हमारे 'समकाल' के संकटों की शिनाख्त कर चुके थे और वे संसार को चेताते भी आ रहे थे, लेकिन हम तो 'प्रगति की पेंगों' में धुत्त थे और उनकी इरादतन अनसुनी कर रहे थे।

कहना न होगा कि 'पश्चिमाभिमुखी' उनके सबसे विश्वसनीय उत्तराधिकारी नेहरू ने ही उनकी बहुतेरी स्थापनाओं को, एक विचारशील वृद्ध की सनक मानकर उन्हें खारिज कर दिया था, क्योंकि नेहरू 'आधुनिक-भारत' के निर्माता होने के दृढ़ संकल्प से भरे उतावले नेता थे। उनके पास 'आधुनिकता का एक रेडीमेड मॉडल' था, जिसे वे 'पश्चिम' में देख रहे थे। अतः उन्होंने गांधी के 'हिंद-स्वराज' का कोई कवच-पाठ नहीं किया। क्योंकि गांधी 'पश्चिम की आधुनिकता' के उस प्रारूप को, काफी हद तक संदिग्ध मान रहे थे और उसे भारत जैसे एक विराट और विशाल सांस्कृतिक-बहुलता वाले बहुधर्मी देश के लिए ही नहीं, एक नवस्वतंत्र 'राष्ट्र-राज्य' के निर्माण के संदर्भ में उपयोग करने में हिचकिचाते रहे थे, क्योंकि उस 'आधुनिकता' में 'प्रगति' और 'विकास' के प्रतिमान, प्रकृति पर मनुष्य की अधिकतम विजय के भीतर देखे जा रहे थे। जिसे, वे अनुचित मानते थे, और कहते थे कि प्रकृति से 'विनिमय और साहचर्य' होना चाहिए, दोहन नहीं। क्योंकि 'दोहन' की प्रवृत्ति अंततः लालच का रूप ले लेती है और लालच उपभोगवादी-मूल्य की आधारशिला है।

अल्प-उपभोगवादी न केवल विकास और प्रगति के बीच संतुलन बनाता है, बल्कि अपनी स्वतंत्रता का विस्तार करता है। लेकिन, आजादी के बाद नेहरू ने पश्चिम की आधुनिकता को लागू करते हुए, भारी उद्योग लगवाए और उन उद्योगों के लिए, जब ग्रामीण-आबादी श्रम संसाधन बनी तो, गांवों से शहर की तरफ पलायन बढ़ता गया। कृषि अलाभकारी होती गई और जमीनें असली किसान के हाथों से निकलकर बड़े भूमिपतियों के हाथ में चली गईं और वह 'जेंटलमेन फार्मर' की मिल्कियत बनने लगीं।

जबकि गांधी 'आर्थिक आत्मनिर्भरता' वाले 'ग्राम स्वराज' में महती संभावना देख रहे थे। उसी में उन्हें एक वैकल्पिक-सभ्यता का उदय लग रहा था। गांधी में एक गहरी 'आत्म-प्रश्नेयता' भी थी और वे मानते थे कि हजारों वर्षों की सांस्कृतिकता और परंपरा वाला यह देश, अपने ढंग की कोई देशज 'आधुनिकता' को आविष्कृत कर ही लेगा। अतः देश के लिए राजनीतिक आजादी से ज्यादा जरूरी है, उपनिवेशवादी-संस्कृति से मुक्ति। लेकिन, आजादी के बाद जो हुआ, उसमें गांधी की पूर्णतः अवहेलना थी, जिसने आज हमें अंततः ऐसे

'समकालीन संकट' के सामने लाकर खड़ा कर दिया है कि हर नगारिक के मन में, 'विदेशी' की कामना ही अंतिम अभीष्ट है।

आज का जो भारत हम देख रहे हैं, वह गांधी के सपनों का भारत तो है ही नहीं और ना ही नेहरू के सपनों का भारत, बल्कि यह तो अब केवल पश्चिम के 'संस्कृति-उद्योग के माल के उपभोक्ताओं से भरा हुआ भारत है। उस भारत के तो सारे देसी और स्थानीय उद्योग धंधे, अंधकूप में गिरा दिए जा चुके हैं। याद कीजिए कि भूमंडलीकरण के बाद से, इस देश में केवल जीवन-शैली बदलने वाले उत्पादों को बेचने वाले 'ट्रेड्स' ही बड़ी तादाद में आए हैं, मगर कोई ऐसा बड़ा उद्योग नहीं आया, जो हमें एक बड़ी उत्पादक शक्ति की तरह विश्व में प्रतिष्ठित कर सके।

गांधी की भविष्य-दृष्टा के सामर्थ्य को समझने के लिए हमें उनकी छोटी-सी पुस्तक 'हिंद स्वराज' को देखना चाहिए, जो उनका मेनिफेस्टो कही जा सकती है। इस पुस्तक में, उन्होंने गहरे चिंतन से एक स्वदेशी किस्म की नितांत भारतीय ढंग की वैकल्पिक मूल्य व्यवस्था का ऐसा मानचित्र रखा था, जिसमें सर्वोदय, समता, सांस्कृतिक एकता, सहिष्णुता, शिव-अशिव, सत्य-असत्य, अहिंसा और अस्तेय से निकली नैतिकता के सहारे, एक साम्राज्यवाद विरोधी 'आधुनिकता' का 'सार-तत्व' बरामद होता है। उसमें आर्थिक-निर्भरता और ग्राम-स्वराज की अवधारणा के साथ नए भारत की रचना का स्वप्न देखा गया था। जिसमें हमें स्पष्टतः असली अर्थों में एक स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य की नींव दिखती है लेकिन दुर्भाग्यवश, अब सब कुछ ही उलट गया है। इसे एक जातीय 'विडंबना' की तरह देखा जाना चाहिए।

आज गांवों का योजनाबद्ध शहरीकरण हो रहा है, 'उपभोक्तावाद' ने सभी वर्गों को निगल लिया है। शिक्षा, स्वास्थ्य, और संचार को निजी हाथों में दे दिया गया है। विकास का ग्राफ असमान हो चुका है, औद्योगिक उत्पादन नीचे चला गया है, सार्वजनिक क्षेत्र का ध्वंस हो चुका है, तमाम अस्मिताएँ परस्पर युद्धरत हैं, वर्ण और वर्ग के संघर्ष चरम पर हैं, धर्म का मूलवाद राजनीति से नाथा जा चुका है और कल्याणकारी राज्य का संवैधानिक चेहरा झुलस चुका है।

हमने पंद्रह अगस्त, 1947 को जो साम्राज्यवाद से अपनी आजादी छीनी थी, उसे हमने 24 जुलाई, 1991 को 'संरचनाग्रस्त-समायोजन' के नाम पर, जो बेलआउट डील थी, उस पर हस्ताक्षर करके आने वाले पांच सौ वर्षों के लिए, देश की आजादी को बेच दिया है और अब हम 'नव-उपनिवेशवाद' के गुलाम हो गए हैं। जब गांधी ने अंतिम बार 'हे राम' बोला था उनके सीने में तीन गोलियां लगी थीं, लेकिन अब लगता है 24 जुलाई 1991 को तो उनका सीना ही छलनी हो गया। अब हम किसे कहें कि हम भारतीयों का, एक 'महास्वप्न' की बहुत दारुण नियति से यही दरिद्र साक्षात्कार होना लिखा था। ■

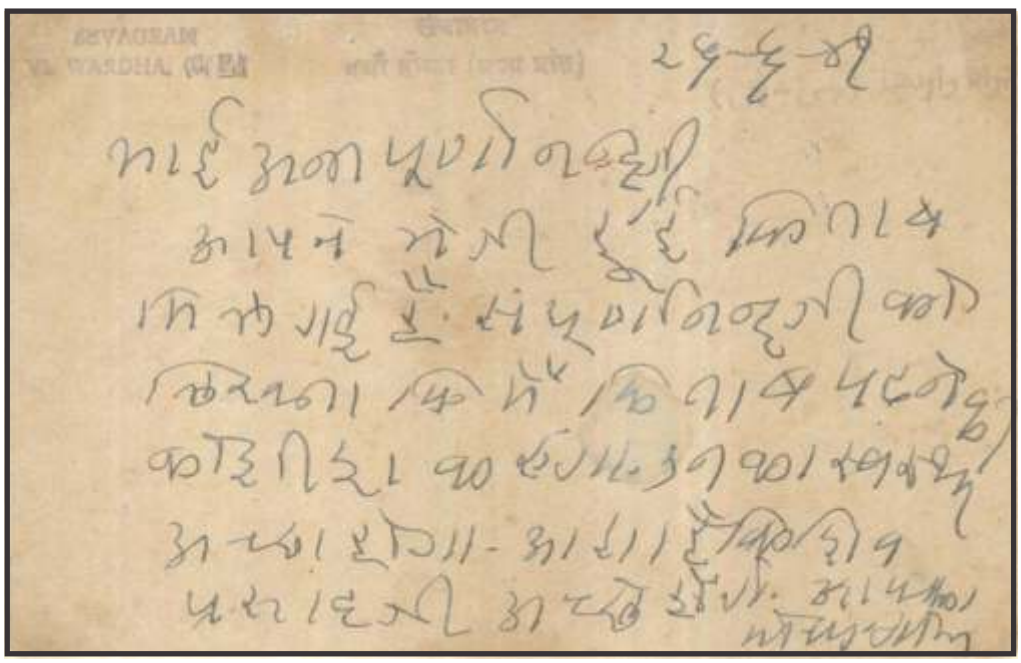

महात्मा गांधी द्वारा 26 जून, 1941 को अन्नपूर्णानंदजी को लिखा गया पत्र,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय में उपलब्ध है।